

4

सरदार पूर्णसिंह



द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ निबन्धकार सरदार पूर्णसिंह का जन्म सीमा प्रान्त (जो अब पाकिस्तान में है) के एबटाबाद ज़िले के एक गाँव में सन् 1881 ई० में हुआ था। इनकी आरंभिक शिक्षा गवलपिण्डी में हुई थी। हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद ये लाहौर चले गये। लाहौर के एक कालेज से इन्होंने एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद एक विशेष छात्रवृत्ति प्राप्त कर सन् 1900 ई० में रसायनशास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए ये जापान गये और वहाँ इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में अध्ययन करने लगे। जब जापान में होनेवाली ‘विश्व धर्म सभा’ में भाग लेने के लिए स्वामी गमतीर्थ वहाँ पहुँचे तो उन्होंने वहाँ अध्ययन कर रहे भारतीय विद्यार्थियों से भी भेट की। इसी क्रम में सरदार पूर्णसिंह से स्वामी रामतीर्थ की भेट हुई। स्वामी रामतीर्थ से प्रभावित होकर इन्होंने वहीं संन्यास ले लिया और स्वामी जी के साथ ही भारत लौट आये। स्वामी जी की मृत्यु के बाद इनके विचारों में परिवर्तन हुआ और इन्होंने विवाह करके गुहाथ जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इनको देहगढ़ून के इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट में 700 रुपये महीने की एक अच्छी अध्यापक की नौकरी मिल गयी। यहीं से इनके नाम के साथ अध्यापक शब्द जुड़ गया। ये स्वतंत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, इसलिए इस नौकरी को निभा नहीं सके और त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद ये ग्वालियर गये। वहाँ इन्होंने सिखों के दस गुरुओं और स्वामी रामतीर्थ की जीवनियाँ अंग्रेजी में लिखीं। ग्वालियर में भी इनका मन नहीं लगा। तब ये पंजाब के जड़ावाला स्थान में जाकर खेती करने लगे। खेती में हानि हुई और ये अर्थ-संकट में पड़कर नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकने लगे। इनका सम्बन्ध क्रान्तिकारियों से भी था। ‘देहली षड्यंत्र’ के मुकदमे में मास्टर अमीरचंद के साथ इनको भी पूछताछ के लिए बुलाया गया था किन्तु इन्होंने मास्टर अमीरचंद से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध होना स्वीकार

लेखक-एक संक्षिप्त परिचय

- जन्म—17 फरवरी, सन् 1881 ई०।
- जन्म-स्थान—एबटाबाद (पाकिस्तान)।
- कृतियाँ—सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, अमेरिका का मस्त योगी वॉल्ट हिटमैन, कन्यादान, पवित्रता।
- द्विवेदी युग के निबन्धकार।
- प्रारंभिक शिक्षा—गवलपिण्डी।
- शिक्षा—एफ.ए. (फाइन आर्ट)।
- लेखन-विधा—निबन्ध।
- भाषा—सौषध, शुद्ध खड़ीबोली।
- शैली—भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक।
- आजीविका—देहगढ़ून के इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट में अध्यापक।
- मृत्यु—31 मार्च, सन् 1931 ई०।
- साहित्य में स्थान—हिन्दी निबन्धकारों में इनका प्रमुख स्थान है।

नहीं किया। प्रमाण के अभाव में इनको छोड़ दिया गया। वस्तुतः मास्टर अमीरचंद स्वामी रामतीर्थ के परम भक्त और गुरुभाई थे। प्राणों की रक्षा के लिए इन्होंने न्यायालय में झूठा बयान दिया था। इस घटना का इनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। भीतर- ही-भीतर ये पश्चाताप की अग्नि में जलते रहते थे। इस कारण भी ये व्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं कर सके और हिन्दी साहित्य की एक बड़ी प्रतिभा पूरी शक्ति से हिन्दी की सेवा नहीं कर सकी। 31 मार्च, 1931 में इनकी मृत्यु हो गयी। सरदार पूर्णसिंह के हिन्दी में कुल छह निबंध उपलब्ध हैं—

1. सच्ची वीरता, 2. आचरण की सभ्यता, 3. मजदूरी और प्रेम, 4. अमेरिका का मस्त योगी वॉल्ट हिटमैन, 5. कन्यादान और 6. पवित्रता। इन्हीं निबंधों के बल पर इन्होंने हिन्दी गद्य-साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थायी स्थान बना लिया है। इन्होंने निबंध रचना के लिए मुख्य रूप से नैतिक विषयों को ही चुना।

सरदार पूर्णसिंह के निबंध विचारात्मक होते हुए भावात्मक कोटि में आते हैं। उनमें भावावेग के साथ ही विचारों के सूत्र भी लक्षित होते हैं जिन्हें प्रयत्नपूर्वक जोड़ा जा सकता है। ये प्रायः मूल विषय से हटकर उससे सम्बन्धित अन्य विषयों की चर्चा करते हुए दूर तक भटक जाते हैं और फिर स्वयं सफाई देते हुए मूल विषय पर लौट आते हैं। उद्धरण-बहुलता और प्रसंग-गर्भन्त इनकी निबंध-शैली की विशेषता है।

सरदार पूर्णसिंह की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है, किन्तु उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ फारसी और अंग्रेजी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इनकी निबंध-शैली अनेक दृष्टियों से निजी-शैली है। इनके विचार भावुकता की लपेट में लिपटे हुए होते हैं। भावात्मकता, विचारात्मकता, वर्णनात्मकता, सूत्रात्मकता, व्यांग्यात्मकता इनकी शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। विचारों और भावनाओं के क्षेत्र में ये किसी सम्प्रदाय से बँधकर नहीं चलते। इसी प्रकार शब्द-चयन में भी ये अपने स्वच्छन्द स्वभाव को प्रकट करते हैं। इनका एक ही धर्म है मानववाद और एक ही भाषा है हृदय की भाषा। सच्चे मानव की खोज और सच्चे हृदय की भाषा की तलाश ही इनके साहित्य का लक्ष्य है।

प्रस्तुत निबंध ‘आचरण की सभ्यता’ में लेखक ने आचरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। लेखक की दृष्टि में लम्बी-चौड़ी बातें करना, बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखना और दूसरों को उपदेश देना तो आसान है, किन्तु ऊँचे आदर्शों को आचरण में उतारना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार हिमालय की सुन्दर चोटियों की रचना में प्रकृति को लाखों वर्ष लगाने पड़े हैं, उसी प्रकार समाज में सभ्य आचरण को विकसित करने में मनुष्य को लाखों वर्षों की साधना करनी पड़ी है। जनसाधारण पर सबसे अधिक प्रभाव सभ्य आचरण का ही पड़ता है। इसलिए यदि हमें पूर्ण मनुष्य बनना है तो अपने आचरण को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाना होगा। आचरण की सभ्यता न तो बड़े-बड़े ग्रन्थों से सीखी जा सकती है और न ही मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों से। उसका खुला खजाना तो हमें प्रकृति के विग्रह प्रांगण में मिलता है। आचरण की सभ्यता का पैमाना है परिश्रम, प्रेम और सरल व्यवहार। इसलिए हमें प्रायः श्रमिकों और सामान्य दीखनेवाले लोगों में उच्चतम आचरण के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं।



आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजस्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है; वक्ता चुप हो जाता है; लेखक की लेखनी थम जाती है; मूर्ति बनानेवाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघट्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नप्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋद्धु बदल जाते हैं। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के काले बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पत्र शरद् ऋद्धु में क्लेशातुर हुए पुरुष इनकी सुगंधमय अटल वसंत ऋद्धु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, धास, पात, नर-नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभावती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मंद-मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात् श्रीकेशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात एक क्षण की तरह गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थित संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न अंगील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में धूंसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यन्त्र से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है, परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथिवी बन गयी, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे, परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखायी देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिये जायें तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश के रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्म-वाणी हैं, परन्तु इन्हाँना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय परन्तु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पंखुड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायें; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय, सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायें—परन्तु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए रामरोला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गयी चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजन के फप-फप शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मंदिर और हर मस्जिद में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादरी स्वयं ईसा होता है—मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्थि होता है—मस्जिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए—चाहे वह कन्या जिस किसी जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो—अपने-आपको गंगा में फेंक दे—चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहें चाहे जायें—तो इस कार्य में प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु क्या मनुष्य—जगत् के सभी चराचर आप-ही-आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही-सा पाया जाता है।

मनुष्य का जीवन इन्हाँना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उत्तरि और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पवित्रता कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अर्धमों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं। जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब-कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अर्धम पवित्रता में लिप्त रहे हैं? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-गहित को सूर्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक यह जीवन का बीज पृथिवी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पते ऊपर नहीं निकल आये, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्छारित शब्दों को सुनाता है, हम में कहाँ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्र, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से

हमारा खून करें। कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबकी (सबका?) क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संगठनकर्ता धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सथिता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाये हुए गस्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना गस्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक मुझे यदि ईश्वर का ज्ञान नहीं तो नहीं होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्घार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नहीं होता तो न होने दो। उससे सिद्ध ही क्या हो सकती है? जब तक कि किसी जहाज के कपान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभायनक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्वैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर धमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में ढूब जाता है, परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाये कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ, न संध्या ही करता हूँ और न कोई देव-पूजा ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। तो इससे प्रयोजन ही क्या और इससे हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की संगति में गुरजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिए लंगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान् हैं, शरीर मेरा नीरोग है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाँ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों को खाने के लिए मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सच्चाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदाय लाल्ही-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लम्पटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दृष्टि जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से सम्बन्ध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। जाति की उन्नति लड़ने-भिन्ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं, केवल धर्म ही जाति की उन्नति करता है। यह ठीक है, परन्तु यह धर्माकुर जो जाति को उन्नति करता है, इस असभ्य, कमीने पापमय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मन्द-मन्द, टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन जिसको देश-देशान्तरों को ढूँढ़ते-फिरते रहने के बिना शान्ति नहीं मिलती; जिसकी अन्तर्ज्वला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मन्द नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाँती पर मूँग दल कर और पहाड़ों को फाँद कर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा रहा है। रॉबिनहुड की प्रशंसा में जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए, क्योंकि रॉबिनहुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और बेलिंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई

के आजकल के सामान—गोला, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसमें वह प्रकाश और वायु में सदा खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत-से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का और क्या एक जाति का और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाये बिना, सारी प्रकृति को हवा में उड़ाय बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है? समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना? जरा-सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाये भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन-पर-दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वह किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथिवी का बन जाना तो आसान है, परन्तु ऋषियों को अपनी उत्तरि के लिए राख और पृथिवी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्ट-शाय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरप में सभी असभ्य थे, परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शाय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आड़चरणों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वर्णों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-बड़ी दो रेटियाँ-से प्रतीत होते हैं। कुटियों में ही बैठकर धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड गज्ज रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनायी देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपीठक (त्रिपिठक) में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए भेजा है कि सरस्वती में चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

—सरदार पूर्णसिंह

अभ्यास प्रश्न

→ गद्यांश पर आधारित प्रश्न

1. निम्नलिखित गद्यांशों को पढ़कर उनके नीचे दिये गये प्रश्नों के उत्तर लिखिए—

(क) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

प्रश्न- (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) सभ्याचरण की व्याख्या के मौन आव्यायन क्या हैं?

(iv) सभ्याचरण की मुख्य विशेषता क्या है?

(v) आचरण की सभ्यतामय भाषा कैसी है?

(ख) मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को— मन के लक्ष्य को— ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मंद-मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। मूर्धास्त होने के पश्चात् श्रीकेशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी गत एक क्षण की तरह गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रश्न- (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) मौनरूपी व्याख्यान का क्या महत्व है?

(iv) आचरण की मौन भाषा का सम्बन्ध किससे है?

(v) प्रस्तुत गद्यांश में लेखक का निहित भाव क्या है?

(ग) प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण-प्रभाव, शील, अवल-स्थित संयुक्त आचरण- न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के भीठे उपदेश से; न अंजील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में धूँसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यन्त्र से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

प्रश्न- (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) प्रेम की भाषा कैसी होती है?

(iv) मानव का सदाचार किसके माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है?

(v) प्रेम की भाषा के द्वारा हमारे हृदय के भावों को किस प्रकार प्रकट किया जाता है?

- (घ) आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्ठी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथिवी बन गयी, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे, परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यत्य छटा अवश्य दिखायी देती है।
- प्रश्न-** (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
अथवा गद्यांश के पाठ और लेखक का नाम लिखिए।
(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
(iii) श्रेष्ठ आचरण बनने में कितना समय लग सकता है?
(iv) प्रस्तुत अवतरण में मदारी के क्रिया-कलाप का वर्णन किस प्रसंग में हुआ है?
(v) आचरण महिमामय और दिव्य कैसे होता है?
- (झ) मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं।
- प्रश्न-** (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
(iii) प्रस्तुत गद्यांश का आशय क्या है?
(iv) आचरण की संरचना में क्या-क्या सहायक सिद्ध होते हैं?
(v) व्यक्ति की आत्मा उसे किन कार्यों को करने के लिए प्रेरणा देती है?
- (झ) आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबकी (सबका?) क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संगठनकर्ता धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा वर्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यो ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आरचणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सङ्क से नहीं आया, उसने अपनी सङ्क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाये हुए रस्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना गास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से गत-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार गमप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।
- प्रश्न-** (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
(iii) जीवन का परम उद्देश्य क्या है?
(iv) आचरण की सभ्यता के लिए हमें क्या करना चाहिए?
(v) प्रस्तुत अवतरण में लेखक का निहित भाव क्या है?
- (छ) आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनायी देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति

होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपीठक (त्रिपिटक) में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेखक तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए भेजा है कि सरस्वती में चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

प्रश्न- (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) आचरण की सभ्यता का देश कैसा है?

(iv) प्रस्तुत अवतरण में आलस्य को क्या बताया गया है?

(v) गद्यांश का आशय स्पष्ट कीजिए।

→ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सरदार पूर्णसिंह की भाषा-शैली बताते हुए उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।
2. सरदार पूर्णसिंह का साहित्यिक परिचय दीजिए।
3. सरदार पूर्णसिंह का परिचय निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर दीजिए—
(क) जन्म-तिथि एवं स्थान, शिक्षा-दीक्षा और साहित्यिक योगदान।
(ख) प्रमुख कृतियाँ।
4. हिन्दी निबन्ध के इतिहास में सरदार पूर्णसिंह का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
5. ‘आचरण की सभ्यता’ पाठ का सारांश अपने शब्दों में प्रस्तुत कीजिए।
6. सरदार पूर्णसिंह का परिचय, साहित्यिक योगदान एवं प्रमुख रचनाओं का उल्लेख कीजिए।
7. सरदार पूर्णसिंह का जीवन-परिचय देते हुए उनकी कृतियों तथा भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।
8. निम्नलिखित सूक्तिप्रक वाक्यों की सासन्दर्भ व्याख्या कीजिए—
(क) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है।
(ख) प्रेम की भाषा शब्द-रहित है।
(ग) आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशबाला मंदिर है।
(घ) पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता।
(ड) आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है।
(च) मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण की सभ्यता की प्राप्ति सम्भव है।
(छ) प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता-प्रभाव तो सदा आचरण का पड़ता है।
(ज) अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है।

→ लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बुद्धदेव, इसा और महाप्रभु चैतन्य कौन थे? आचरण की सभ्यता से इनका क्या सम्बन्ध था?
2. “‘आचरण का विकास जीवन का परम उद्देश्य है।’” इस कथन की पुष्टि कीजिए।
3. ‘आचरण की सभ्यता’ में आत्म-व्यंजना का क्या महत्व है? संक्षेप में लिखिए।
4. “अध्यापक पूर्णसिंह अपने निर्बन्धों में विदेशी शब्दों को बेंजिङ्क ग्रहण करते हैं, लेकिन उससे निबंध के प्रवाह में अवरोध नहीं उत्पन्न होता।” इस कथन पर आप अपना संक्षिप्त विचार प्रकट कीजिए।
5. ‘आचरण की सभ्यता’ पाठ का मुख्य संदेश क्या है?
6. ‘आचरण की सभ्यता’ से लेखक का क्या तात्पर्य है?
7. ‘आचरण की सभ्यता’ के लेखक ने आचरण के विकास के लिए किन बातों पर बल दिया है?
8. “आचरण का विकास जीवन का परम उद्देश्य है।” इस कथन की पुष्टि कीजिए।



5 डॉ सम्पूर्णनन्द



प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ एवं मर्मज्ञ साहित्यकार डॉ सम्पूर्णनन्द का जन्म 1 जनवरी, 1890 ई० को काशी में हुआ था। इन्होंने ब्वीन्स कालेज, वाराणसी से बी०एस-सी० की परीक्षा पास करने के बाद ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद से एल०टी० किया। इन्होंने एक अध्यापक के रूप में जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया और सबसे पहले प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन में अध्यापक हुए। कुछ दिनों बाद इनकी नियुक्ति ढूँगर कालेज, बीकानेर में प्रिंसिपल के पद पर हुई। सन् 1921 में महात्मा गांधी के गांधीय आन्दोलन से प्रेरित होकर काशी लौट आये और 'ज्ञान मंडल' में काम करने लगे। इन्हीं दिनों इन्होंने 'मर्यादा' (मासिक) और 'टुडे' (अंग्रेजी दैनिक) का सम्पादन किया।

इन्होंने गांधीय स्वतंत्रता संग्राम में प्रथम पंक्ति के सेनानी के रूप में कार्य किया और सन् 1936 में प्रथम बार कांग्रेस के टिकट पर विधानसभा के सदस्य चुने गये। सन् 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल गठित होने पर ये उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री नियुक्त हुए। सन् 1955 में ये उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। सन् 1960 में इन्होंने मुख्यमंत्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। सन् 1962 में ये गजस्थान के राज्यपाल नियुक्त हुए। सन् 1967 में राज्यपाल पद से मुक्त होने पर ये काशी लौट आये और मृत्युपर्यन्त काशी विद्यापीठ के कुलपति बने रहे। 10 जनवरी, 1969 ई० को काशी में ही इस साहित्य-तपस्ची का निधन हो गया।

डॉ सम्पूर्णनन्द एक उद्भृत विद्वान् थे। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ये उर्दू और फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। विज्ञान, दर्शन और योग इनके प्रिय विषय थे। इन्होंने इतिहास, राजनीति और ज्योतिष

लेखक-एक संक्षिप्त परिचय

- जन्म—1 जनवरी, सन् 1890 ई०।
- जन्म-स्थान—काशी (उ० प्र०)।
- पिता—विजयानन्द।
- प्रमुख रचनाएँ—चिद्रिलास, पृथ्वी से सपर्वि मण्डल, देशबन्धु वितर्जनदास, महात्मा गांधी, चीन की राज्यक्रान्ति, समाजवाद, आर्यों का आदि देश।
- शिक्षा—बी०एस-सी०, एल०टी०, अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी भाषा पर अधिकार।
- लेखन विधा—निबन्ध संग्रह, फुटकर निबन्ध, जीवनी, पत्रिका आदि।
- भाषा—शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भाषा।
- शैली—विचारात्मक, गवेषणात्मक, व्याख्यात्मक, काव्यात्मक, आलंकारिक।
- आजीविका—प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन में अध्यापक व ढूँगर कॉलेज, बीकानेर में प्रिंसिपल। उ०प्र० के शिक्षा मंत्री, गृहमंत्री, मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल रहे।
- सम्पादन—'मर्यादा', 'टुडे' (अंग्रेजी पत्रिका)।
- मृत्यु—10 जनवरी, सन् 1969 ई०।
- साहित्य में स्थान—सम्पूर्णनन्द जी हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित, कुशल राजनीतिज्ञ, मर्मज्ञ साहित्यकार, भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के ज्ञाता, गंभीर विचारक, जागरूक शिक्षाविद् के रूप में जाने जाते हैं।

का भी अच्छा अध्ययन किया था। राजनीतिक कार्यों में उलझे रहने पर भी इनका अध्ययन-क्रम बराबर बना रहा। सन् 1940 में ये अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इनकी 'समाजवाद' कृति पर इनको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया था। इनको सम्मेलन की सर्वोच्च उपाधि साहित्य वाचस्पति भी प्राप्त हुई थी। काशी नागरी प्रचारणी सभा के भी ये अध्यक्ष और संरक्षक थे। उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री और मुख्यमंत्री के रूप में इन्होंने शिक्षा, कला और साहित्य की उन्नति के लिए अनेक उपयोगी कार्य किये। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय इनकी ही देन है।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने विविध विषयों पर लगभग 25 ग्रंथों की तथा अनेक फुटकर लेखों की रचना की थी।

डॉ. सम्पूर्णानन्द की प्रसिद्ध कृतियाँ निम्नलिखित हैं :

निबन्ध-संग्रह—‘पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल’, ‘चिद्रिलास’, ‘ज्योतिर्विनोद’, ‘अंतरिक्ष यात्रा’।

फुटकर निबन्ध—‘जीवन और दर्शन’।

जीवनी—‘देशबन्धु चितरंजनदास’, ‘महात्मा गांधी’।

राजनीति और इतिहास—‘चीन की राज्यक्रान्ति’, ‘मिस्र की राज्यक्रान्ति’, ‘समाजवाद’, ‘आर्यों का आदि देश’, ‘सम्राट हर्षवर्द्धन’, ‘भारत के देशी राज्य’ आदि।

धर्म—‘गणेश’, ‘नासदीय सूक्त की टीका’, ‘ब्राह्मण सावधान’।

अन्य रचनाएँ—‘अंतर्राष्ट्रीय विधान’, ‘पुरुष सूक्त’, ‘ब्रात्यकाण्ड’, ‘भारतीय सृष्टि क्रम विचार’, ‘स्फुट विचार’, ‘हिन्दू देव परिवार का विकास’, ‘वेदार्थ प्रवेशिका’, ‘अधूरी क्रान्ति’, ‘भाषा की शक्ति तथा अन्य निबन्ध’।

इनकी शैली शुद्ध, परिष्कृत एवं साहित्यिक है। इन्होंने विषयों का विवेचन तर्कपूर्ण शैली में किया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनकी शैली के तीन रूप (1) विचारात्मक, (2) व्याख्यात्मक तथा (3) ओजपूर्ण लक्षित होते हैं।

विचारात्मक शैली—इस शैली के अन्तर्गत इनके स्वतंत्र एवं मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। भाषा विषयानुकूल एवं प्रवाहपूर्ण है। वाक्यों का विधान लघु है, परन्तु प्रवाह तथा ओज सर्वत्र विद्यमान है।

व्याख्यात्मक शैली—दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा सरल एवं संयत है। उदाहरणों के प्रयोग द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ओजपूर्ण शैली—इस शैली में इन्होंने मौलिक निबंध लिखे हैं। ओज की प्रधानता है। वाक्यों का गठन सुन्दर है। भाषा व्यावहारिक है।

इनकी भाषा सबल, सजीव, साहित्यिक, प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। गंभीर विषयों के विवेचन में भाषा विषयानुकूल गंभीर हो गयी है। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है। शब्दों का चुनाव भावों और विचारों के अनुरूप किया गया है। भाषा में सर्वत्र प्रवाह, सौष्ठव और प्राञ्जलता विद्यमान है।

प्रस्तुत ‘शिक्षा का उद्देश्य’ शीर्षक निबंध सम्पूर्णानन्द जी के ‘भाषा की शक्ति’ नामक संग्रह से संकलित है। इस पाठ में लेखक ने ‘शिक्षा के उद्देश्य’ पर मौलिक ढंग से अपना विचार व्यक्त किया और प्राचीन आदर्शों को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। लेखक ने इस पाठ में अध्यापकों का कर्तव्य बताते हुए स्पष्ट किया है कि अध्यापक का सर्वप्रथम कर्तव्य छात्रों में चरित्र का विकास करना और उनमें लोक-कल्याण की भावना जाग्रत करना है।

शिक्षा का उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है शिक्षा किसलिए दी जाय? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र नहीं है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ—क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक ज़ंचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायेगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुग है पर पराये देश का शोषण करना बुग नहीं। झूठ बोलना बुग है पर गजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गयी हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है। पग-पग पर धर्म-संकट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचारकर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असंभव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रिम धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में रूस ने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एकसूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्तव्यों के टकराने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबंध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिए स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराने काल में अपने लिए आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है क्योंकि उसका सश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है, परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उसे खोयी हुई वस्तु की, अपने स्वरूप की, निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौड़ता है, कभी उसकी ओर; परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वह गजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिससे पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम-से-कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबंध राज्य नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया

जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है; वह ब्यौरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्यौरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है, पर उसे इसका पता नहीं। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलिखित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिए सुख का अनुभव होता है; परन्तु थोड़ी ही देर बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है; क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य मुठभेड़ होगी। चीज का उपयोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्रेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना, मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं, त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्रेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्रेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं; परन्तु चित्त को ऊधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है। निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना खयाल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थ साधन, लोक-संग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायें। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है : भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रृषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है। ‘मैं’ ‘पर’ का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने ‘स्व’ की एक झलक मिल जाती है। ‘मैं’ ‘तू’ के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिए यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव मात्र की करनी है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं, उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोदीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करता है। अध्यापक का कर्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह ‘मैं’ ‘तू’ के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक साम्य की आकांक्षा होगी। वह वस्तु मेरी होकर रहे—इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें—धर्मचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है। परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक

वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों के सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्यपाठ से मुझको आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में ही ग्रहकर होता है और बहुत से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है, परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अंग हैं उसमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी। इन सबका हम पर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सबके प्रति हमारा कर्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिए छोड़ गये हैं उनका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाय। इसलिए हमारे कर्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्तव्य-राशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं। इस झागड़े का अन्त नहीं हो सकता। यदि धर्मबुद्धि जगायी जाय और सब अपने-अपने कर्तव्यों में तत्पर हो जायें तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जायें, और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है, जब चित्त में सत्य के लिए निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं, पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिए अनुसंधान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिए। वह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त में जिज्ञासा-ज्ञान का आदर होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा। सौन्दर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथिवी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता। व्यापार, शासन, कुटुम्ब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायेगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसंदेह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायेंगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथश्रृङ् भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों की सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वंद्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो उसके अध्यापक भला क्या करें। जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, माँ-बाप में मार-पीट, गाली-गलौज मची रहती हो, उसके बच्चों को पालने ही में मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों में रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नहीं समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता, पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर देह पायी है और मेरे पास छात्र रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में बल जुटा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक वरन् आमुषिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण करना भी पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय वह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतन्त्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है, पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने ज्ञान-शक्ति आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार वह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटने के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्तव्य है उसका मूल्य रूपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था, वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था, वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्म-विद्या का पात्र और यजमान को दिव्यलोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे न पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्तव्यच्युत हो जायें? हमको अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

—डॉ० सम्पूर्णनन्द

अभ्यास प्रश्न

→ गद्यांश पर आधारित प्रश्न

1. निम्नलिखित गद्यांशों को पढ़कर उनके नीचे दिये गये प्रश्नों के उत्तर लिखिए—

(क) पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे।

प्रश्न— (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) पुरुषार्थ किस प्रकार का विषय है?

(iv) पुरुषार्थ और दर्शन का सम्बन्ध किससे है?

(v) प्रत्येक समाज को दार्शनिक मत क्यों स्वीकार करना चाहिए?

- (ख)** आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है।
- प्रश्न-** अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
- उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
 - रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
 - आत्मा को क्या माना गया है?
 - प्रस्तुत गद्यांश में किसका वर्णन किया गया है?
 - इस गद्यांश में आनन्द की कुंजी किसे बताया गया है?
- (ग)** आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबंध राज्य नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है— और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।
- प्रश्न-** अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
- उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
 - रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
 - आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन क्या है?
 - समाज और अध्यापक का क्या कर्तव्य है?
 - उपर्युक्त गद्यांश का आशय स्पष्ट कीजिए।
- (घ)** यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना, मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं, त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है।
- प्रश्न-** अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
- उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
 - रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
 - गद्यांश के अनुसार अध्यापक का प्रमुख कर्तव्य क्या है?
 - आत्मसाक्षात्कार की कुंजी क्या है?
 - गद्यांश के अनुसार करुणा क्या है?
- (ङ)** चित को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और चित आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोदीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उदीपन करता है। अध्यापक का कर्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

- प्रश्न-** (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।
अथवा गद्यांश के पाठ एवं लेखक का नाम लिखिए।
(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।
(iii) प्रस्तुत अवतरण के अनुसार अध्यापक का क्या कर्तव्य है?
(iv) गद्यांश के अनुसार कला को किसका साधन बताया गया है?
(v) प्रस्तुत गद्यांश में किसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है?

→ **दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**

1. ‘शिक्षा का उद्देश्य’ पाठ का सारांश लिखिए।
2. डॉ० सम्पूर्णनन्द की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।
3. डॉ० सम्पूर्णनन्द की जीवनी बताते हुए उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।
4. डॉ० सम्पूर्णनन्द का साहित्यिक परिचय दीजिए।
5. निम्नलिखित सूक्तिपरक वाक्यों की सन्दर्भ व्याख्या कीजिए—
 (क) आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है।
 (ख) एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।
 (ग) जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ शक्ति होती है।
 (घ) आत्मा अजर-अमर है।
 (ड) पुरुषार्थ दर्शनिक विषय है।
 (च) दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।
 (छ) भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।
 (ज) निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय।
 (झ) चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है।

→ **लघु उत्तरीय प्रश्न**

1. “मनुष्य को पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है”, इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
2. लेखक के विचार से मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है?
3. शिक्षा किस प्रकार चरित्र-निर्माण में सहायक होती है? अध्यापकों को अपने छात्रों में किन-किन गुणों का विकास करना चाहिए?
4. ‘धर्म’ की व्यापकता को लेखक ने किस प्रकार स्पष्ट किया है?
5. पठित निबन्ध के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
6. हमारी सामाजिक दशा का शिक्षक और विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ता है?
7. शिक्षक को किन आदर्शों की सिद्धि के लिए निरन्तर जागरूक रहना चाहिए?
8. ‘शिक्षा का उद्देश्य’ पाठ के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि आदर्श शिक्षक में क्या गुण होने चाहिए?
9. आधुनिक युग में शिक्षा का क्या उद्देश्य है, इस सन्दर्भ में डॉ० सम्पूर्णनन्दजी का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
10. ‘शिक्षा का उद्देश्य’ नामक पाठ की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
11. ‘शिक्षा का उद्देश्य’ निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए।
12. ‘शिक्षा का उद्देश्य’ नामक निबन्ध में सम्पूर्णनन्द ने किन बिन्दुओं पर अधिक जोर दिया है? संक्षेप में लिखिए।

